हेट स्पीच, अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता और भारतीय क़ानूनी व्यवस्था

निशांत कुमार

यदि हम हेट स्पीच के अर्थ की विवेचना करते हैं तो हमें इस अवधारणा की विभिन्न परिभाषाएँ देखने को मिलती हैं। ह्यूमन राइट्स वॉच इसे ऐसी अभिव्यक्ति के रूप में परिभाषित करता है जिसे 'नस्लीय, जातीय और धार्मिक समूहों और अन्य असतत अल्पसंख्यकों और महिलाओं के लिए घृणास्पद व अपमानजनक माना जाता है।'[1] हेट स्पीच में 'स्पीच' शब्द के अर्थ के बारे में विद्वानों के बीच व्यापक एकमतता प्रतीत होती है। यहाँ स्पीच शब्द का अर्थ केवल

[1] ह्यूमन राइट्स वॉच (1992) : 5.

बोले गए शब्द, बातचीत या शब्दावली नहीं है। इसमें ऐसे शब्द भी शामिल हैं जो 'मुद्रित हों, प्रकाशित हों, चिपकाए गए हों या इंटरनेट पर पोस्ट किए गए हों – ऐसे भाव जो दृश्य वातावरण का एक स्थायी या अर्द्ध-स्थायी हिस्सा बन जाते हैं जिसमें हमें अपना जीवन, और कमज़ोर अल्पसंख्यक वर्ग के सदस्यों को अपना जीवन जीना पड़ता है।'[2] हालाँकि 'हेट' शब्द के उपयोग के बारे में भ्रम और विवाद अभी भी क़ायम है। रॉबर्ट पोस्ट के अनुसार, 'हेट' शब्द अत्यधिक नापसंदगी या घृणा की भावना, नफ़रत और द्वेष दर्शाता है।[3] वह 'हेट' को नापसंदगी का एक चरम रूप मानते हैं और इसलिए क़ानून के माध्यम से नियमन की आवश्यकता पर ज़ोर देते हैं। उनके इस विचार के केंद्र में वो व्यक्ति है जो हेट स्पीच का उपयोग करता है और हेट स्पीच के माध्यम से अपने भीतर की घृणा और नफ़रत को अभिव्यक्त करता है। हालाँकि जेरेमी वाल्ड्रॉन मानते हैं कि पोस्ट के तर्क से ऐसा प्रतीत होता है जैसे क़ानून और हेट स्पीच के विनियमन के समर्थक नफ़रत को बुरी चीज़ मानते हैं (चाहे वह किसी भी संदर्भ में हो) और इसलिए उसके नियंत्रण की पैरवी करते है क्योंकि उन्हें लगता है कि नफ़रत सदा हानिकारक होती है।[4] इसके विपरीत वाल्ड्रॉन का मानना है कि हेट स्पीच विनियमन के समर्थकों की चिंता का मुख्य विषय अपनी प्रजाति, जातीयता या धर्म के आधार पर नफ़रत का सामना करने वाले असुरक्षित अल्पसंख्यक होते हैं क्योंकि ऐसे नफ़रत का सीधा असर उनकी मनोस्थिति पर होता है। यह स्पष्ट है कि पोस्ट से भिन्न वाल्ड्रॉन के अनुसार हेट स्पीच की बहस के केंद्र में हेट स्पीच का शिकार व्यक्ति अथवा समूह होना चाहिए न कि उसे इस्तेमाल करने वाले। इससे क़ानून स्वतंत्र अभिव्यक्ति की रक्षा करते हुए भी हेट स्पीच के शिकार लोगों के प्रति संवेदनशील रह सकता है।[5] वहीं भीखू पारेख[6] और मिशेल रोसेनफ़ेल्ड[7] जैसे विद्वान यह मानते हैं कि हेट स्पीच की उपरोक्त दोनों परिभाषा में 'हेट' शब्द पर और व्यापक विचार करने की आवश्यकता है। रोसेनफ़ेल्ड का कहना है, 'इस बात का आकलन किया जाना चाहिए कि कैसे या कितनी अभद्र भाषा को प्रतिबंधित किया जाना चाहिए, और इसलिए कुछ प्रमुख चरों को परिभाषित करते हुए यह तय किया जाना चाहिए कि हेट स्पीच में कौन और क्या शामिल है और कहाँ और किन परिस्थितियों में ये मामले सामने आते हैं।'[8] निश्चय ही इस चिंता का कारण यह है कि हेट स्पीच की परिभाषा उसकी सीमाओं को भी तय करता है, जिसका असर प्रत्यक्ष रूप से अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता पर भी होता है। साथ ही किसी एकपक्षीय दृष्टिकोण के आधार पर हेट स्पीच पर लगाम लगा कर उससे होने वाले नुक़सान

---

[2] जेरेमी वाल्ड्रॉन (2012) : 37.

[3] रॉबर्ट पोस्ट (2009) : 123.

[4] जेरेमी वाल्ड्रॉन : 36.

[5] वही : 37.

[6] भीखू पारेख (2012) : 37-56.

[7] मिशेल रोसेनफ़ेल्ड (2012) : 242-289.

[8] वही : 246.

पर नियंत्रण कर पाना बहुत मुश्किल है। शायद इसलिए पारेख अपनी परिभाषा को ज़्यादा खुला रखते हुए कहते हैं कि 'हेट स्पीच किसी ख़ास विशेषताओं से चिह्नित समूह जैसे नस्ल, जातीयता, लिंग, धर्म, राष्ट्रीयता और यौन अभिविन्यास आदि के ख़िलाफ़ घृणा को व्यक्त करती है, प्रोत्साहित करती है, उत्तेजित करती है और उकसाती है।'[9] अतः यह देखा जा सकता है कि विद्वानों के बीच इस विषय पर कोई सहमति नहीं है कि हेट स्पीच में 'हेट' शब्द को कैसे परिभाषित किया जाए। सर्वसम्मति के अभाव से ज़्यादा चिंतनीय बात यह है कि इनमें से प्रत्येक परिभाषा 'हेट स्पीच' को समझने का एक अलग नज़रिया प्रस्तुत करती है और अपनी-अपनी समझ के आधार पर अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता की अलग-अलग क़ानूनी सीमाएँ तय करने की वकालत करती है। इस तरह के भ्रम की स्थिति हेट स्पीच से रक्षा में बिल्कुल हितकर नहीं होती क्योंकि क़ानूनी अनिश्चितताओं का भय दिखाकर कई विद्वान् 'चिकना ढलान' (स्लिपरी स्लोप)[10] के तर्क के आधार पर हर प्रकार के हेट स्पीच क़ानून का विरोध करते हैं।

भारत में अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता पर टिप्पणी करने वाले अधिकांश विद्वान् जैसे नूरानी[11] और अंसारी[12] हेट स्पीच की पश्चिमी देशों में इस्तेमाल की जाने वाली अवधारणा का उपयोग बिना यहाँ के संदर्भ में परिभाषित किए एवं बिना आलोचनात्मक व्याख्या किए ही करते हैं। दुर्भाग्यवश जो इसे परिभाषित करने की कोशिश भी करते हैं उनका दृष्टिकोण भी बहुत गंभीर नज़र नहीं आता। रत्ना कपूर अपने लेख 'हु क्रॉस्ड द लाइन? फ़ेमिनिस्ट रिफ़्लेक्शन ऑन स्पीच ऐंड सेंसरशिप' में 'हेट स्पीच' और 'यौन भाषण (सेक्सुअल स्पीच)' के बीच अंतर करने की आवश्यकता की बात कहती हैं। उनके अनुसार हेट स्पीच का ध्येय ऐसे शब्दों और छवियों से है जो कि ख़ास समूहों के प्रति घृणा/ नफ़रत को बढ़ावा देती हैं, और भारत के संदर्भ में ये समूह मुख्यतः धार्मिक अल्पसंख्यक होते हैं।[13] पूरे लेख में वह बहुत से अदालती मामलों और संवैधानिक प्रावधानों का हवाला देती हैं, लेकिन इन मामलों को 'हेट स्पीच' के तहत वर्गीकृत करने के लिए वह कोई मज़बूत तर्क देने में विफल नज़र आती हैं। इसी तरह, राजीव धवन अपनी पुस्तक *पब्लिश ऐंड बी* डैम्ड में कहते हैं, 'मोटे तौर पर हेट स्पीच में ऐसा कोई भी भाषण शामिल है जो व्यक्तियों, समूहों या वर्गों को लक्षित करता है और ऐसे व्यक्तिगत समूहों या वर्गों का उपहास उड़ाता है या उन्हें नाराज़, अपमान या बदनाम करने का प्रयास करता है, या उन्हें इस तरह से चित्रित करने का प्रयास करता है जिससे उनकी प्रतिष्ठा या आत्म-सम्मान कम हो। हेट स्पीच कुछ लोगों के प्रति नफ़रत को भड़का सकती है या नफ़रत

[9] भीखू पारेख (2012) : 40.

[10] कुछ विद्वानों का मानना है कि कोई भी सिद्धांत जो नफ़रत का प्रचार करने वाले भाषण पर प्रतिबंध की अनुमति देता है, उन्हें लागू करना एवं तर्क के रूप में उनका उपयोग करना मुश्किल होगा. इस तरह के विचारों के पैरोकारों में एडविन बेकर और रॉनाल्ड ड्वॉर्किन शामिल हैं.

[11] ए.जी.नूरानी (1999, 2008).

[12] इकबाल अंसारी (2008) : 15-19.

[13] रत्ना कपूर (1996) : 20.

को भड़काने की क्षमता रखती है, जिसके परिणामस्वरूप ऐसे व्यक्तियों या समूहों को लक्षित और पीड़ित किया जा सकता है, और इसके कारण उनके ख़िलाफ़ हिंसा हो सकती है या अन्य तरह के बैर जन्म ले सकते हैं जिससे शांति भंग हो सकती है।'[14] हेट स्पीच शब्द की इस परिभाषा में वो हर पहलू सम्मिलित है जिसके आधार पर संयुक्त राज्य अमेरिका सहित दुनिया में कहीं भी मुक्त भाषण को विनियमित किया जा सकता है। साथ ही धवन हेट स्पीच की परिभाषाओं की जाँच किए बिना या अन्य लोकतंत्रों में इसके अर्थ और दायरों के बारे में बहस में शामिल हुए बिना ही इस अवधारणा को अपनी इच्छानुसार परिभाषित करने का प्रयास करते हैं। इसके अलावा, इस परिभाषा की अपनी सीमाएँ हैं। उदाहरण के लिए, ऐसे मामले भी हो सकते हैं जहाँ भाषण अपमानजनक और आक्रामक तो हो, मगर उसमें किसी के प्रति नफ़रत भड़काने की क्षमता न हो। धवन की परिभाषा से यह स्पष्ट नहीं है कि ऐसी भाषा अथवा भाषण को हेट स्पीच के दायरे में रखा जा सकता है या नहीं?

इसमें कोई संदेह नहीं कि हेट स्पीच की एक संकल्पना के रूप में उत्पत्ति और विकास अमेरिका एवं युरोप में एक विशेष संदर्भ में हुआ था और इसलिए भारत में इन अवधारणाओं के इस्तेमाल से पहले इनकी व्याख्या और यहाँ के संदर्भ में इसकी समझ विकसित होनी आवश्यक है। इस लेख में मेरा उद्देश्य भारतीय संदर्भ में अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता और हेट स्पीच के संबंधों पर आधारित बहस में निहित जटिलताओं को प्रस्तुत करना है। मेरा तर्क है कि भारत के वैधानिक और संवैधानिक क़ानून ऐसे भी कई प्रकार के अभिव्यक्ति के विनियमन का समर्थन करते हैं और इनके ख़िलाफ़ राज्य की कार्रवाई को उचित ठहराते हैं जो पश्चिमी लोकतंत्रों में विकसित हेट स्पीच की परिभाषा से परे हैं। इससे भी महत्त्वपूर्ण बात यह है कि यहाँ की न्यायपालिका (जिसे संविधान निर्माताओं ने नागरिक के मौलिक अधिकारों का संरक्षक माना था) भी ऐसे प्रतिबंधों और इस पर आधारित राज्य की कार्यवाही को अनुमोदित करती है। ऐसे में हेट स्पीच की पश्चिमी अवधारणा और परिभाषा भारत के संदर्भ की जटिलताओं की व्याख्या करने में असमर्थ नज़र आती है और इसलिए यहाँ के संदर्भ और समाज को ध्यान में रखते हुए या तो हेट स्पीच की अवधारणा को फिर से परिभाषित करने की आवश्यकता है या एक बेहतर अवधारणा की तलाश करने की आवश्यकता है जो उन व्यंजकों की व्याख्या कर सके जिसके आधार पर भारत में अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता को प्रतिबंधित किया जाता है।

'हेट स्पीच' की परिभाषा का ऐतिहासिक और क़ानूनी विकास

वैचारिक स्तर पर यदि हम 'हेट स्पीच' की परिभाषा के इतिहास को देखें, तो हालाँकि यह संकल्पना 1980 के दशक में जा कर ही ज़्यादा प्रचलित हुई, इसकी उत्पत्ति 1920-30 के दशक में संयुक्त राज्य अमेरिका में मानी जा सकती है जहाँ से धीरे-धीरे बढ़ते हुए इसने युरोप

[14] राजीव धवन (2008) : 223.
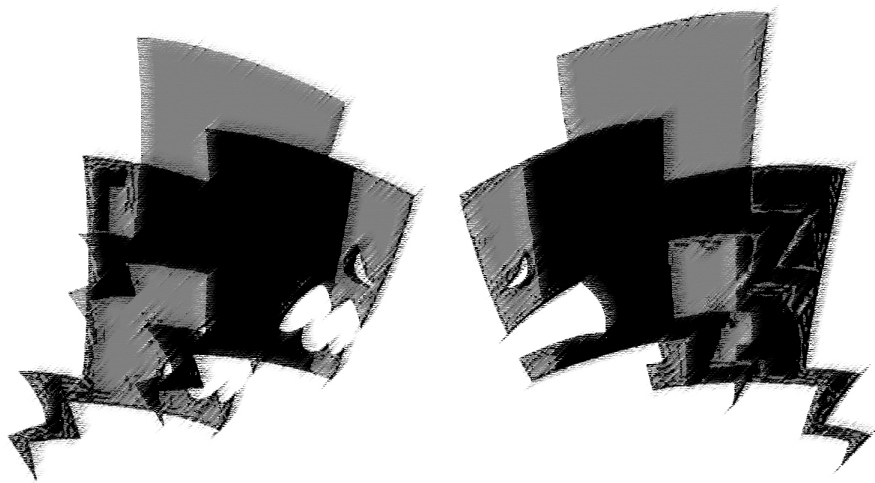
के विमर्शों में जगह बनाई।[15] हेट स्पीच के नियमन की शुरुआत मुख्यतः द्वितीय विश्व युद्ध के बाद ही हुई। जैसा कि रोसेनफ़ेल्ड कहते हैं, 'नस्लवादी प्रचार और विध्वंस के मध्य स्पष्ट संबंध से प्रेरित होकर, अंतर्राष्ट्रीय वाचाओं के साथ-साथ जर्मनी जैसे अलग-अलग देशों ने – और युद्ध के बाद के दशक में, संयुक्त राज्य अमेरिका ने भी – संवैधानिक रूप से संरक्षित अभिव्यक्ति के दायरे से हेट स्पीच को बाहर कर दिया'।[16] अमेरिका में एक अवधारणा के रूप में हेट स्पीच का विकास वहाँ के संविधान के पहले संशोधन (अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता से जुड़ा था) के दायरे और सीमाओं से जुड़े विमर्श के परिणाम के रूप में हुआ था।[17] यह विमर्श इस बात पर टिका था कि क्या स्वतंत्र भाषण असीमित हो सकता है? हेट स्पीच की अवधारणा ने भाषण के ऐसे प्रारूपों पर प्रकाश डाला जिनका लोकतंत्र पर गंभीर और नकारात्मक प्रभाव पड़ सकता था। इससे स्वतंत्र भाषण एवं अभिव्यक्ति की आज़ादी से जुड़े विमर्श में एक निर्णायक हस्तक्षेप हुआ। अभिव्यक्ति और भाषण के नकारात्मक पहलुओं से जुड़ी चिंताओं के मध्य एक अवधारणा के रूप में 'हेट स्पीच' का विकास दर्शन, क़ानून और मानवाधिकार से जुड़े विविध विषयों और विचारों के मध्य वैचारिक आदान-प्रदान के फलस्वरूप हुआ। इस प्रक्रिया में यह संकल्पना 'नस्लीय घृणा' को प्रतिबंधित करने के तर्क से बहुत आगे निकल गई, और इसमें भाषण के अन्य कई स्वरूपों को भी शामिल किया जाने लगा। 'हेट स्पीच' के प्रमुख दृष्टिकोणों और इससे संबंधित संवैधानिक और क़ानूनी प्रावधानों के तुलनात्मक अध्ययन के माध्यम से इसके विकास को समझा जा सकता है।

---

[15] सैमुएल वॉकर (1994) : 8.

[16] मिशेल रोसेनफ़ेल्ड : 243.

[17] अमेरिकी संविधान का पहला संशोधन यह घोषणा करता है कि अमेरिकी कांग्रेस 'अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता को कम करने' वाला कोई क़ानून नहीं बनाएगी.

'हेट स्पीच' के प्रश्न से संबंधित प्रमुख दृष्टिकोणों को नागरिक स्वतंत्रता उपागम, उदारवादी उपागम और नागरिक अधिकार उपागम के रूप में वर्गीकृत किया जा सकता है।[18] यहाँ यह उल्लेख करना महत्त्वपूर्ण है कि इन सभी दृष्टिकोणों में हेट स्पीच के अभिज्ञान अथवा मान्यता पर कोई विवाद नहीं था, क्योंकि इन विचारों में समाज में 'हेट स्पीच' की उपस्थिति और इसके नकारात्मक प्रभाव पर किसी प्रकार का कोई संदेह नज़र नहीं आता। इन उपागमों की मुख्य विषयवस्तु एवं इनके मध्य विवाद और भिन्नता का आधार यह है कि हेट स्पीच से समाज की सबसे प्रभावी रूप से सुरक्षा कैसे की जा सकती है।

नागरिक स्वतंत्रता दृष्टिकोण

नागरिक स्वतंत्रता दृष्टिकोण के समर्थक व्यक्तिगत स्वतंत्रता पर विशेष रूप से बल देने के आधार पर किसी भी प्रकार के हेट स्पीच के नियमन का विरोध करते हैं। उनका मानना है कि नस्लीय या अन्य विशिष्ट प्रकार के उपाधि विषयक और अपमानों का विनियमन मौलिक मानव स्वतंत्रता का उल्लंघन है और गंभीर व्यवधान अथवा सार्वजनिक विकार के मामलों के अलावा अन्य किसी मामले में हेट स्पीच के नियमन की अपेक्षा नहीं की जाती है। इस दृष्टिकोण के समर्थक हेट स्पीच के नियमों के संबंध में मुख्य रूप से निम्नलिखित आपत्तियों की बात करते हैं :

क) स्वतंत्र अभिव्यक्ति लोकतंत्र की जीवनदायिनी है एवं स्वतंत्र और जीवंत लोकतंत्र की तुलना में 'हेट स्पीच' से होने वाली क्षति की क़ीमत बहुत कम है।[19]

ख) 'हेट स्पीच' का जवाब सीमित व कम अभिव्यक्ति नहीं बल्कि अधि भाषण है।[20] इस संबंध में यह तर्क दिया जाता है कि बुरे विचारों पर प्रतिबंध लगा कर नहीं अपितु इनकी आलोचनात्मक जाँच करके एवं बेहतर तर्कों से इन्हें पराजित किया जा सकता है।[21]

ग) हेट स्पीच को प्रतिबंधित करने के लिए बनाया गया कोई भी क़ानून दो समस्याओं को जन्म देता है। प्रथम, सत्ता में बैठे लोगों द्वारा क़ानूनों का दुरुपयोग किए जाने की संभावना है, और दूसरा, 'चिकना ढलान' (स्लिपरी स्लोप) तर्क यह कहता है कि एक बार यदि हेट स्पीच के नाम पर विनियमन का समर्थन किया जाएगा तो हम अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता से जुड़े अन्य सभी प्रकार के प्रतिबंधों के लिए भी द्वार खोल देते हैं,[22] और,

घ) मनुष्य ज़िम्मेदार और स्वायत्त व्यक्ति है, और हेट स्पीच के प्रति सहिष्णुता के लिए उस पर भरोसा किया जा सकता है और भरोसा करना भी चाहिए।[23]

[18] मैं टोनी एम. मासारो (1991) द्वारा प्रतिपादित वर्गीकरण का उपयोग कर रहा हूँ.

[19] रॉनाल्ड ड्वॉर्किन (2009) : ix.

[20] सी. एडविन बेकर (2012) : 139-140.

[21] भीखू पारेख : 48.

[22] फ्रेडरिक शॉअर (1985) : 361.

[23] अध्ययनों ने शिक्षा के स्तर में वृद्धि और एंटी-ब्लैक और एंटी-सेमेटिक विचारों में कमी के बीच संबंध स्थापित करने का भी

उदारवादी दृष्टिकोण

उदारवादी दृष्टिकोण की वकालत ऐसे विद्वान करते हैं जिनका मानना है कि अभिव्यक्ति एवं भाषण की स्वतंत्रता आवश्यक तो है परंतु यह निरंकुश नहीं हो सकती है। इसमें ओवेन फ़िस[24] और कैस सनस्टीन[25] जैसे विद्वान शामिल हैं, जो सामुदायिक कार्यों में नागरिकों की समान भागीदारी का समर्थन करते हैं और मानते हैं कि राज्य द्वारा हेट स्पीच के नियंत्रण को हमें सकारात्मक भाव से देखना चाहिए क्योंकि इससे स्वतंत्र सार्वजनिक बहस की संभावनाओं को ज़ोर मिलता है। इसलिए वे मानते हैं कि जब हेट स्पीच द्वारा कुछ लोगों और उनके विचारों को अपवर्जित किया जाता है तब ऐसे संदर्भ में राज्य सभी दृष्टिकोणों को स्थान देने के लिए हेट स्पीच का विनियमन कर सकता है।[26] स्टीवन जे. हेमैन[27] का मानना है कि अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता को मानवीय गरिमा और स्वायत्तता पर आधारित अधिकारों के व्यापक ढाँचे के भीतर समझा जाना चाहिए एवं ऐसे अधिकारों पर प्रहार करने वाले भाषण को विनियमित किया जा सकता है। इसी तरह, वाल्ड्रॉन[28] हेट स्पीच से होने वाली क्षति का आकलन करने में मानवीय गरिमा को आधार बनाते हैं। ये सभी विद्वान मानते हैं कि आवश्यकता पड़ने पर भाषण एवं अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता को विनियमित किया जा सकता है। हालाँकि, वे इस बात पर भी ज़ोर देते हैं कि ये विनियमन बहुत अधिक व्यापक नहीं होने चाहिए और इनका समर्थन केवल ऐसे भाषणों को प्रतिबंधित करने में किया जाना चाहिए जो न केवल अपमानजनक या आक्रामक हैं बल्कि जो आम तौर पर शारीरिक हिंसा जैसे गंभीर ख़तरों को जन्म देते हैं।[29] इस तरह के दृष्टिकोण के साथ समस्या यह है कि अक्सर प्रतिबंध की शर्तों को इतना ऊँचा रखा जाता है कि संभावित रूप से ख़तरनाक भाषणों को भी प्रतिबंधित करना कठिन होता है।

नागरिक अधिकार दृष्टिकोण

इस उपागम की शुरुआत क्रिटिकल रेस थ्योरी के समर्थक मस्तूदा, डेलग्राडो और लॉरेंस से माना जाता है।[30] मस्तूदा नागरिक स्वतंत्रता दृष्टिकोण और उदार दृष्टिकोण के समर्थकों को

प्रयास किया है. इस समझ का आधार यह है कि शिक्षा के स्तर में वृद्धि के कारण लोग विचारों से आहत नहीं होते हैं बल्कि इन्हें किसी अन्य राय के रूप में ही देखते हैं. जैसे कि आर. सेल्ज़र और जी.एम. लोप्स (1986) : 91; आर.जे. बायरोम और ए.एल. लेंटन(1991) : 411.

24 ओवेन फिस (1996).

25 कैस सनस्टीन (2003).

26 इयान क्रैम (2006) : 127.

27 हेमन (2009).

28 वाल्ड्रॉन (2012).

29 आर. ए. स्मोल्ला (1990) : 198.

30 मारी जे. मस्तूदा, चार्ल्स आर. लॉरेंस III, रिचर्ड डेलगाडो, और किम्बर्ले विलियम क्रेंशॉ (1993).

'फर्स्ट अमेंडमेंट फंडामेंटलिस्ट' और 'फर्स्ट अमेंडमेंट रिविजनिस्ट' कहते हैं। उनका मानना है कि अमेरिका में प्रथम संशोधन की आड़ में हेट स्पीच को बढ़ावा मिल रहा है और इसके भुक्तभोगी वो लोग हैं जो हाशिये पर हैं।[31] इसी वजह से वह एक आमूल परिवर्तनवादी विचार प्रस्तुत करते हुए कहते हैं कि अधीनस्थ समूह के एक सदस्य पर लक्षित अथवा निर्देशित हेट स्पीच दंडनीय होनी चाहिए, परंतु समाज के प्रबल समूह के सदस्य के विरुद्ध लक्षित अथवा निर्देशित हेट स्पीच दंडनीय नहीं होनी चाहिए। लॉरेंस नस्लीय और धार्मिक अनादर/अपमान की प्रकृति और गंभीरता के प्रति असंवेदनशीलता की मौजदूगी का तर्क देते हुए ज्ञानमीमांसा से जुड़े गंभीर सवाल उठाते हैं।[32] पेट्रीसिया विलियम्स ने, नस्लीय कारण से पीड़ितों के मानसिक विनाश के अनुभव को मान्यता देते हुए नस्लवादी संदेशों को 'आत्मा की हत्या' कहा है। उन्होंने ऐसे अन्य समूहों के प्रति भी अपनी एकजुटता का विस्तार किया, जिन्हें 'हेट स्पीच' के कारण दमन का सामना करना पड़ा था। विलियम्स का कहना है कि 'इन अन्य समूहों को शामिल करने का स्पष्ट आधार यह है कि लिंग, धर्म, यौन वरीयता पर आधारित बदनामी और उपमाएँ अधीनस्थ, अपमानजनक और परोक्ष रूप से शारीरिक हिंसा से जुड़ी हैं।'[33] यह दृष्टिकोण पोर्नोग्राफ़ी विरोधी आंदोलन[34] से जुड़े कुछ नारीवादियों जैसे की ऐंड्रिया ड्वॉर्किन और कैथरीन मैकिनॉन और बहु-संस्कृतिवादी विचारक जैसे तलाल असद[35] और सबा महमूद[36] के तर्कों में भी देखने को मिलता है।

उपरोक्त चर्चा से हेट स्पीच विमर्श के आधार एवं उदय का पता चलता है। नागरिक स्वतंत्रतावादियों के सभी प्रयासों के बावजूद, अमेरिका और युरोपीय देशों की सरकारें 'हेट स्पीच' को सीमित करने के लिए क़ानून बनाती रहीं। हालाँकि, अन्य पश्चिमी लोकतंत्रों की तुलना में अमेरिका में यह परिदृश्य थोड़ी अलग तरह से विकसित हुआ है। एक विचार के रूप में हेट स्पीच के विकास में अमेरिकी सुप्रीम कोर्ट के स्वतंत्र भाषण विधिशास्त्र का महत्त्वपूर्ण प्रभाव रहा था। जैसा कि सैमुअल वॉकर (1994) का मत है, नागरिक समाज ने भी इस विमर्श के विकास में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई थी। वास्तव में, वॉकर का तर्क यह है कि प्रारंभ से ही अमेरिकी समाज मूलतः भाषण एवं अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता के विनियमन के विरुद्ध था। जैसा कि उन्होंने उल्लेख किया है, प्रमुख अभिनेताओं या नीति बनाने वाले अभिजात वर्ग जिनमें न्यायाधीश, वकील, कार्यकर्ता शामिल थे, ने 'हेट स्पीच' सहित सभी प्रकार के भाषणों के संरक्षण का समर्थन किया। इसी कारण से जिस तरह से यह विमर्श विकसित हुआ, वह भाषण एवं अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता के पक्ष में था। यदि कोई सर्वोच्च न्यायालय के निर्णयों

---

[31] मारी जे. मस्तूदा (1993) : 10.

[32] चार्ल्स आर. लॉरेंस III (1993) : 67.

[33] पैट्रीशिया विलियम्स (1987) : 2358.

[34] एंड्रिया ड्वर्किन और कैथरीन मैकिनन (1988).

[35] तलाल असद (2009).

[36] सबा महमूद (2009).
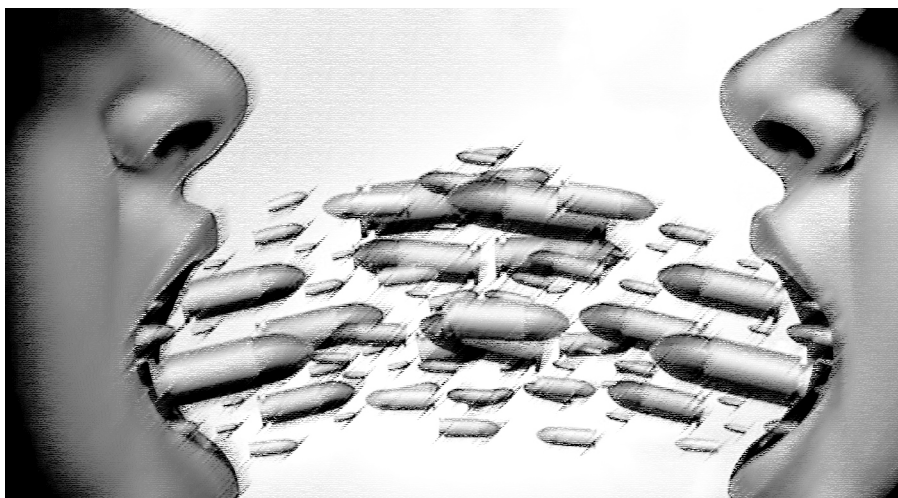
के माध्यम से इस विमर्श के विकास को समझने की कोशिश करता है, तो ऐसा स्पष्ट है कि इस विमर्श में समयानुसार कई परिवर्तन हुए हैं और न्यायपालिका के रवैये में यह बदलाव साफ़तौर पर देखा जा सकता है। जहाँ एक ओर, चैपलिंस्की केस (1942)[37] और ब्यूहरनैस केस(1952)[38] जैसे मामलों में न्यायपालिका ने समूह-मानहानि के ख़िलाफ़ क़ानूनों को बरकरार रखा और तर्क दिया कि सभी भाषण पहले संशोधन द्वारा संरक्षित नहीं हैं। वहीं दूसरी ओर सुलिवन केस(1969)[39], मोस्ले केस(1972)[40], स्कोकी केस(1977)[41] और आर.ए.वी बनाम सिटी ऑफ़ सेंट पॉल केस(1992)[42] जैसे मामलों में प्रमुखता से यह माना गया कि प्रथम संशोधन पवित्र और अनुलंघनीय है। 1980 के दशक के बाद की अवधि में, 'कैंपस हेट स्पीच' की चुनौती महत्त्वपूर्ण रूप से प्रमुख हो गई जिस कारण यह बहस एक नया मोड़ लेती प्रतीत होती है। इस चरण में नारीवादी सिद्धांत, क्रिटिकल रेस थ्योरी और अन्य वैकल्पिक विमर्शों का तेज़ी से विस्तार हुआ, जिन्होंने हेट स्पीच से उपजे ख़तरों पर बात करते हुए इसके विनियमन की वकालत की।[43] हालाँकि अमेरिकी सुप्रीम कोर्ट के फ़ैसलों के विश्लेषण से यह पता चलता है कि अदालत ने वाक् स्वतंत्रता के लिए बहुत उच्च मानक स्थापित किए थे और यह तय किया था कि इसका नियमन, 'हेट स्पीच' से संबंधित मामलों में भी, केवल असाधारण परिस्थितियों में ही संभव है।

---

[37] चैपलिंस्की बनाम न्यू हैम्पशायर, 315 यू. एस. 568 (1942).

[38] ब्यूहरनैस बनाम इलिनोइस, 343 यू. एस. 250 (1952).

[39] न्यू यॉर्क टाइम्स कंपनी बनाम सुलिवन, 376 यू. एस. 254 (1964).

[40] पुलिस विभाग शिकागो बनाम मोस्ले, 408 यू. एस. 92 96 (1972).

[41] नैशनल सोशलिस्ट पार्टी ऑफ़ अमेरिका बनाम विलेज ऑफ़ स्कोकी, 432 यू. एस. 43 (1977).

[42] आर.ए.वी. v. सेंट पॉल शहर, 505 यू. एस. 377 (1992).

[43] मिचेल रोसेनफ़ेल्ड : 225.

युरोप और अन्य पश्चिमी लोकतंत्रों के अनुभव कुछ और बयाँ करते हैं। युरोप में, 'हेट स्पीच' की अवधारणा ने द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद के काल में, जोकि होलोकॉस्ट अनुभव और फासीवादी शक्तियों के घृणा प्रचार की एक विशेष ऐतिहासिक पृष्ठभूमि थी, प्रवेश किया। अंतर्राष्ट्रीय अनुबंधों और संवैधानिक विधिशास्त्र, अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता की अवधारणा के संबंध में सम्मान और गरिमा जैसे मूल्यों के बारे में सामूहिक चिंता प्रदर्शित करते हैं। हालाँकि, इन क़ानूनों पर यदि हम एक सरसरी नज़र डालें तो यह स्पष्ट होता है कि इन देशों में भी, भले ही यहाँ हेट स्पीच के ख़िलाफ़ काफ़ी संवेदनशीलता है, इन क़ानूनों के तहत मुक़दमा चलाना बेहद कठिन है क्योंकि ये क़ानून 'हेट स्पीच' को बहुत जटिल रूप में परिभाषित करते हैं। युरोप की मंत्रिपरिषदीय समिति की सिफारिश (97) 20 में 'हेट स्पीच' शब्द का वर्णन करते हुए कहा है कि यह शब्द 'अभिव्यक्ति के सभी रूपों को शामिल करता है जो नस्लीय घृणा, ज़ेनोफ़ोबिया, एंटीसेमेटिज़्म या असहिष्णुता के आधार पर घृणा के अन्य रूपों को फैलाने, उकसाने, बढ़ावा देने को उचित ठहराते हैं, जिसमें आक्रामक राष्ट्रवाद और जातीयतावाद द्वारा व्यक्त असहिष्णुता, अल्पसंख्यकों, प्रवासियों और अप्रवासी मूल के लोगों के ख़िलाफ़ भेदभाव और शत्रुता शामिल है।'[44] इस परिभाषा का उपयोग ई.सी.एच.आर (युरोपीय मानवाधिकार आयोग) सहित विभिन्न युरोपीय निकायों द्वारा किया जाता है। 1999 तक ईसीएचआर में कभी भी वास्तविक शब्द 'हेट स्पीच' का उपयोग नहीं हुआ था। तब से, यह शब्द अदालत के प्रासंगिक मामलों और युरोप की परिषद में विविध गतिविधियों में शामिल होने लगा। अदालत ने अभी तक हेट स्पीच शब्द की अवधारणा को स्पष्टतः परिभाषित नहीं किया है। अदालतों के इस रवैये के कारण कुछ टिप्पणीकारों का मानना है कि या तो अदालत हेट स्पीच की अवधारणा के उपयोग से असहज महसूस करती है या शायद इस शब्द को सटीक रूप से परिभाषित किए बिना मुक़दमों में इसके प्रयोग को अनैतिक मानती है।[45] यूके में, रेस रिलेशंस एक्ट 1965 की धारा 6 ने 'नस्लीय घृणा को उकसाने' को दंडनीय घोषित किया है, यदि अभियुक्त का इरादा नस्लीय घृणा को भड़काने का हो, यदि भाषा धमकी देने वाली या अपमानजनक हो और यदि भाषा वास्तव में नस्लीय घृणा को भड़काने की संभावना रखती हो।[46] यहाँ भी, अभियोजन केवल अटॉर्नी-जनरल की सहमति से ही संभव था। 1986 में लोक व्यवस्था अधिनियम में सुधार किया गया। तब 'नस्लीय घृणा को भड़काने की संभावना' की शब्दावली को 'नस्लीय घृणा को भड़काने के इरादे' के एक वैकल्पिक परीक्षण द्वारा प्रतिस्थापित किया गया था जो आसन्न ख़तरे को इंगित करता है और इसलिए अक्सर मुक़दमा चलाना मुश्किल होता है। नस्लीय और धार्मिक घृणा अधिनियम 2006 ने लोक व्यवस्था अधिनियम 1986 में भाग 3ए जोड़कर उसे संशोधित किया। यह भाग कहता

---

[44] जैसा कि टारलक मैकगोनागल (2012) : 266, में बताया गया है.

[45] वही.

[46] जोआना ओयेदिरन (1992) : 33-35.

है कि, 'एक व्यक्ति जो धमकी भरे शब्दों या व्यवहार का उपयोग करता है, या किसी भी लिखित सामग्री को प्रदर्शित करता है जो धमकी भरा हो, यदि वह धार्मिक घृणा को भड़काने का इरादा रखता है तो वह अपराध का दोषी है।' हालाँकि, यह परिवर्तन मुक़दमा चलाने की प्रक्रिया को और अधिक जटिल बना देता है क्योंकि यह कहता है कि 'इस भाग में कुछ भी इस तरह से पढ़ा या लागू नहीं किया जा सकता जो चर्चा, आलोचना या विरोध, नापसंद, उपहास, अपमान या विशेष धर्मों के दुरुपयोग को प्रतिबंधित करता है या एक अलग धर्म या विश्वास प्रणाली या प्रथाओं के अनुयायियों को अपने धर्म या विश्वास प्रणाली का पालन बंद करने के लिए कहता है।' इसी तरह, 1960 में अपनाए गए स्ट्राफ़ गेसेट्ज़बच (जर्मन आपराधिक संहिता) का अनुच्छेद 130 मानव गरिमा पर हमले को प्रतिबंधित करता है[47]: 1) आबादी के एक निश्चित हिस्से के ख़िलाफ़ घृणा को उकसाना, 2) आबादी के ऐसे हिस्से के ख़िलाफ़ हिंसक या मनमाना कृत्यों को उकसाना, या 3) ऐसे हिस्से का अपमान करना, दुर्भावना से उपहास करना या बदनाम करना।[48]

इन सभी क़ानूनी साधनों का सावधानीपूर्वक अध्ययन यह दर्शाता है कि अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता को प्रतिबंधित करने के लिए घृणा को भड़काना या बढ़ावा देना केंद्र में रहा है, इसलिए इस विषय पर मुक़दमा चलाने के लिए यह साबित करना आवश्यक हो जाता है कि हेट स्पीच का प्रयोग करने वाला व्यक्ति या तो उन लोगों के ख़िलाफ़ नफ़रत को उकसा रहा था या नफ़रत को बढ़ावा दे रहा था जिनके विरुद्ध ऐसे भाषणों का प्रयोग किया जाता है। अन्य क़ानूनी प्रावधानों और संवैधानिक विधिशास्त्र पर आधारित अध्ययनों से यह भी पता चला है कि इन क़ानूनों के तहत मुक़दमा चलाना बहुत कठिन रहा है और यहाँ तक कि अदालत ने भी ऐसे मामलों में क़ानूनों की भी सटीक व्याख्या नहीं की है।

जैसा कि हम पहले भी देख चुके हैं, 'नफ़रत' शब्द को कैसे समझा जाए और इस कारण से मुक्त भाषण के प्रतिबंधों की सीमा कहाँ निर्धारित की जाए, इस बारे में बहस अभी भी उदारवादी विमर्श में तय नहीं हुई है, लेकिन कुछ मुद्दों पर व्यापक समझ बनती दिखाई देती है। प्रथमतः, भाषण एवं अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता इस विमर्श का केंद्र है, और मुख्य सवाल केवल इसकी सीमाओं से जुड़ा है। दूसरा, कुछ ऐसे भाषण हैं जिनमें समूहों या व्यक्तियों को तिरस्कृत करने की प्रवृत्ति होती है। क़ानून के माध्यम से ऐसे भाषणों को प्रतिबंधित करना चाहिए या नहीं यह एक अलग सवाल है परंतु प्रमुख रूप से स्वीकार्य बात यह है कि लोकतंत्र के लिए ऐसे भाषण सही नहीं हैं। एक अवधारणा के रूप में 'हेट स्पीच' की वास्तविक उपयोगिता ऐसे ही भाषण-कृत्यों की उपस्थिति को उजागर करना है और इनके विनियमन या प्रतिबंध के लिए दावा करना है। हेट स्पीच के अर्थ और परिभाषा से संबंधित बहस यह मानती है कि ये प्रतिबंध हर मायने में न्यूनतम होने चाहिए ताकि मुक्त अभिभाषण की केंद्रीयता को ख़तरा न हो।

---

[47] जर्मनी में 'मानवीय गरिमा' संवैधानिक रूप से सुरक्षित है.

[48] देखें, आर. हॉफमैन (1992) : 159-170.

भारत में हेट स्पीच का संचालन करने वाले वैधानिक और संवैधानिक क़ानून

भारत में अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता को प्रतिबंधित करने वाले क़ानूनों ने, युरोप या अमेरिका की तुलना में, पूरी तरह से अलग प्रक्षेप-पथ और तर्क का पालन किया। पारेख ने 'हेट स्पीच' की अपनी चर्चा में इस विरोधाभास को बहुत अच्छी तरह से देखा है और परिलक्षित किया है। उनका तर्क है कि पश्चिमी समाजों में हेट स्पीच और उसके परिणामों से निपटने के लिए कई तंत्र होते हैं, जैसे एक खुली और प्रतिस्पर्धी अर्थव्यवस्था, एक जीवंत नागरिक समाज, एक उचित रूप से एकजुट और एकीकृत समाज, एक विविध मीडिया जो विचारों के व्यापक स्पेक्ट्रम का प्रतिनिधित्व करती है, और आत्म-सीमित सार्वजनिक संस्कृति। इसलिए, ये देश क़ानून को अपेक्षाकृत सीमित भूमिका सौंपने का जोखिम उठा सकते हैं। जहाँ तक भारत जैसे विकासशील देशों की बात है, उनमें स्थिति अलग है। 'उनमें से अधिकांश (देश) जातीय, धार्मिक और नस्लीय समूहों से बने हैं जिन्हें एक साथ काम करने का बहुत कम अनुभव है और अविश्वास, अज्ञानता, ग़लतफ़हमी और शत्रुता की लंबी विरासत है। अफ़वाहें, चुटकुले, अल्पकालिक लाभ चाहने वाले राजनेताओं द्वारा भड़काऊ या ग़लतभाव से की गई टिप्पणी, और यहाँ तक कि मुक्त भाषण के प्रयोग के दौरान की गई तर्कपूर्ण आलोचना भी गहरे बैठे भय को जन्म दे सकती है, अशांति को ट्रिगर कर सकती हैं, और राष्ट्र निर्माण में वर्षों के अच्छे कार्यों को नष्ट कर सकती है।'[49] इस तरह के दावे यह विचार प्रस्तुत करते हैं कि अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता सार्वभौमिक या पूर्ण नहीं है और भारतीय समाज की जटिल प्रकृति के आधार पर, भारतीय संदर्भ में अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता का प्रतिबंध उचित था, भले ही यहाँ क़ानूनों का दायरा युरोप या अमेरिका की तुलना में व्यापक हो। भारत में, भाषण एवं अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता के नियमन से संबंधित क़ानूनी प्रावधानों का इतिहास 'हेट स्पीच' के विमर्श से भी बहुत पुराना है। इन प्रावधानों की शुरुआत को हम लॉर्ड मैकॉले द्वारा निर्मित और 1860 में लागू हुए भारतीय दंड संहिता में देख सकते हैं। भारत के अनूठे संदर्भ के आधार पर उन्होंने न केवल भाषण के प्रदर्शनात्मक आयाम के रोकथाम के लिए विशिष्ट क़ानूनों का प्रस्ताव दिया था, बल्कि उनका ऐसा भी मानना था कि ऐसे अपशब्द और आपत्तिजनक इशारे जिनमें मानसिक उत्तेजना और भावनाओं को आहत करने की प्रवृत्ति होती है, उनसे रक्षा करना भी क़ानून की ज़िम्मेदारी है। दंड संहिता का बाईसवाँ अध्याय, जिसका शीर्षक 'ऑफ़ क्रिमिनल इंटिमीडेशन, इंसल्ट ऐंड एनॉएंस' है, आपत्तिजनक भाषा के रूपों से संबंधित है, जिन्हें पहले कभी आपराधिक घोषित नहीं किया गया था। उन्होंने भारतीय संदर्भ की आवश्यकता के अनुरूप इस खंड में विभिन्न सैद्धांतिक नवाचारों की शुरुआत की। उदाहरण के लिए, उन्होंने अपमान और बदनामी जैसे कृत्यों को शामिल करने के लिए 'मानहानि' शब्द के अर्थ का

[49] भीखू पारेख : 55.
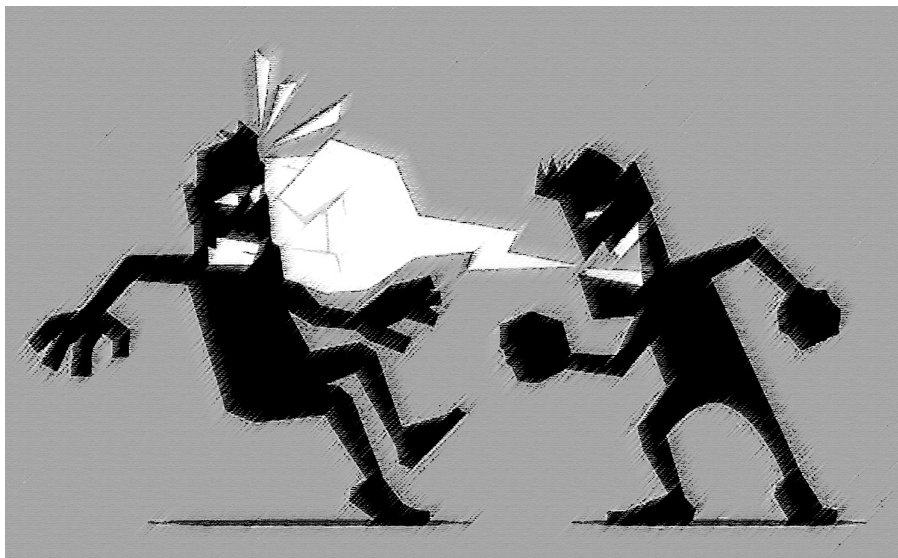
विस्तार किया।[50] इसके साथ ही उन्होंने इस धारणा को भी ख़ारिज कर दिया कि भाषण और कृत्यों के बीच कोई सख़्त विभाजन किया जा सकता है। उन्होंने तर्क दिया कि आपत्तिजनक और अपमानजनक भाषा को भाषण-कृत्यों के रूप में माना जाना चाहिए और इसे आपराधिक विधिशास्त्र के अधीन होना चाहिए।[51] उन्होंने प्रस्तावित किया कि अपमानजनक शब्दों को उनके कारण होने वाली मानसिक पीड़ा के आधार पर अपराध माना जाना चाहिए (भले ही उनसे वास्तव में शांति भंग हुई हो या नहीं) और यह कार्रवाई करने के लिए पर्याप्त आधार है। उनका यह प्रस्ताव भारतीय समाज के उनके अध्ययन पर आधारित था। उन्होंने कहा कि, 'शायद ऐसा कोई और देश नहीं है जिसमें केवल मानसिक भावनाओं को प्रभावित करने वाले आघातों द्वारा अधिक क्रूर पीड़ा दी जाती है और अधिक घातक आक्रोश होता है।'[52]

भारतीय संदर्भ में, अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता के दायरे को सीमित करने के लिए मैकॉले ने जिस तर्क की वकालत की थी, वह मुख्य रूप से अस्थिर सांप्रदायिक संबंधों से संबंधित थे, जिसकी तुलना जेम्स फ़िट्ज़जेम्स स्टीफ़न ने 'ज्वालामुखी पर बैठने' से करते हैं, और इसी आधार पर भाषण एवं अभिव्यक्ति के विनियमन का समर्थन करते हैं।[53] आम तौर पर ऐसे तर्कों

[50] उनका प्रावधान यह कहता है कि: 'जो भी व्यक्ति, बोले गए या पढ़ने के इरादे से लिखे गए शब्दों, या संकेतों द्वारा, या दृश्यात्मक प्रतीकों द्वारा, किसी भी व्यक्ति पर किसी भी हलके में विश्वास करने के लिए किसी भी तरह का आरोप लगाने का प्रयास करता है, यह जानते हुए कि उसका विश्वास और प्रतिष्ठा को आघात पहुँचेगा तो उस हलके में उस व्यक्ति को बदनाम करने वाला कहा जाता है (इसके बाद उल्लिखित मामलों को छोड़कर). 'देखें, 'ऑफ़ डेफ़ेमेशन', *ए पीनल कोड प्रिपेयर्ड बाय दि इंडियन लॉ कमिश्नर्स* (कलकत्ता : बंगाल मिलिट्री ऑर्फ़न प्रेस, 1837 : 124).

[51] टी. बी. मैकॉले (1898) : 121-123.

[52] असद अली अहमद (2009 : 130) में उद्धृत.

[53] टी. जॉन ओ'डॉड (2013 : 271) में उद्धृत.

को औपनिवेशिक तर्क कह कर ख़ारिज किया जा सकता है, लेकिन सच्चाई यह है कि अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता के दायरे का निर्धारण करने वाले दो सबसे महत्त्वपूर्ण क़ानूनों (जो समकालीन भारत में भी प्रभावी हैं) यानि आईपीसी की धारा 153(A) और धारा 295(A) क्रमशः 1890 और 1920 के दशक में निर्मित की गई थीं। इतिहासकारों द्वारा इन दोनों दशकों की अवधि को 'प्रतिस्पर्धी सांप्रदायिकता' के चरणों के रूप में बताया है। ग़ौरतलब बात यह है कि प्रत्येक मामले में न केवल मूल भारतीयों ने ऐसे क़ानूनों की माँग की थी, बल्कि उन्होंने इन क़ानूनों के निर्माण में भी सक्रिय रूप से भाग लिया था, जैसा कि उस समय की केंद्रीय विधान सभा की बहसों के अध्ययन से भी परिलक्षित होता है। इससे यह स्पष्ट है कि जब तक पश्चिमी लोकतंत्रों में हेट स्पीच के विमर्श ने आकार लेना शुरू किया, उससे पहले से ही भारत ऐसे भाषण-कृत्यों को प्रतिबंधित कर रहा था जो हेट स्पीच की परिभाषा से बहुत परे थे।

वर्तमान में भारत में ऐसे कई वैधानिक क़ानून हैं जो अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता का विनियमन करते हैं। इनमें से अधिकांश औपनिवेशिक काल से जारी हैं, इनमें से कुछ आवश्यकता अनुरूप समय-समय पर संशोधित किए गए हैं। ये वैधानिक क़ानून अभिव्यक्ति के विभिन्न रूपों को नियंत्रित करने के लिए राज्य को व्यापक रूप से दंडात्मक और निवारक शक्तियाँ प्रदान करते हैं। भारतीय दंड संहिता की धारा 153(A) 'धर्म, जाति, जन्म स्थान, निवास, भाषा आदि के आधार पर विभिन्न समूहों के बीच शत्रुता को बढ़ावा देने' या 'सद्भाव बनाए रखने के प्रतिकूल कार्य करने' को अपराध घोषित करती है। धारा 153(A) के व्यापक दायरे को धारा 153B द्वारा और मज़बूत किया गया है, जो 'राष्ट्रीय-एकीकरण के लिए हानिकारक आरोप और अभिकथन' को प्रतिबंधित करता है। यह खंड 'बोले गए अथवा लिखित शब्दों', संकेतों, 'या दृश्य प्रतिनिधित्व (चित्रण) या अन्यथा' के उपयोग को अपराधी घोषित करता है। इसी तरह और भी कई प्रावधान हैं जो अभिव्यक्ति एवं भाषण की स्वतंत्रता को विनियमित करते हैं, जैसे : –

- धारा 295, जो 'किसी भी वर्ग के धर्म का अपमान करने के इरादे से [किसी भी] पूजा स्थल को क्षति पहुँचाने या अपवित्र करने' को प्रतिबंधित करती है;
- धारा 295(A), जो 'जानबूझकर किए गए और दुर्भावनापूर्ण कृत्यों को प्रतिबंधित करती है, जिनका उद्देश्य किसी भी वर्ग की धार्मिक भावनाओं को, उसके धर्म या धार्मिक विश्वासों का अपमान करना है';
- धारा 298, जो 'धार्मिक भावनाओं को ठेस पहुँचाने के इरादे से कहे गए शब्द आदि कहने' पर रोक लगाती है;
- धारा 505(1), जो 'सार्वजनिक संकट/हानि के लिए अनुकूल बयान' को प्रतिबंधित करती है; तथा,
- धारा 505(2), जो 'वर्गों के बीच शत्रुता, घृणा या दुर्भावना पैदा करने या बढ़ावा देने वाले बयानों' को प्रतिबंधित करती है।

ये क़ानूनी प्रावधान, अधिकांश युरोपीय प्रावधानों से अलग, 'चोट', 'अपमान', 'दुर्भावनापूर्ण कार्य', 'आक्रोश भावनाओं', 'घाव', 'शत्रुता को बढ़ावा देने' और 'दुर्भावना' जैसे शब्दों का उपयोग करते हैं, जिनका 'हेट' की तुलना में बहुत व्यापक प्रामाणिक और व्यावहारिक अर्थ है। ये क़ानूनी प्रावधान और ऐतिहासिक पृष्ठभूमि यह दर्शाते हैं कि भारत में भाषण और अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता के अधिकार को अलग तरह से देखा जाता है। चार्ल्स टेलर ऐसे लोगों की आलोचना करते हैं जो ऐसा सोचते हैं कि मुक्त भाषण को अमूर्त सिद्धांतों के रूप में स्थापित करने का कोई सही तरीक़ा हो सकता है, जिसे स्थानीय परिस्थितियों पर ध्यान दिए बिना कहीं भी लागू किया जा सकता है। वह इसके दो कारण बताते हैं – क) अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता के दायरे को तय करने के लिए कुछ व्यापक सहमति की आवश्यकता होती है। इसे केवल क़ानून द्वारा थोपा नहीं जा सकता है क्योंकि यदि इसके सिद्धांत जन संवेदनाओं से बहुत भिन्न अथवा दूर होंगे, तो इसे सभी प्रकार के अतिरिक्त क़ानूनी दबावों द्वारा निरर्थक बना दिया जाएगा, और; ख) हर राष्ट्र में स्वतंत्र अभिव्यक्ति के किसी भी रूप की सीमाएँ होती हैं जिन्हें इस आधार पर उचित ठहराया जाता है कि वे लोगों की ऐसी अभिव्यक्ति से उत्पन होने वाले नुक़सान से रक्षा करते हैं। स्वतंत्र अभिव्यक्ति के विनियमन का मुद्दा एक ऐसा मुद्दा है जो सांस्कृतिक विभिन्नता पर निर्भर करता है।[54] पारेख की तरह, टेलर भी संदर्भ के प्रति संवेदनशीलता पर ज़ोर देते हैं और मानते हैं कि स्वतंत्र अभिव्यक्ति के विनियमन के लिए कोई एक नियम सभी देशों और समाजों के लिए समानुचित नहीं है। इसी तर्क का उपयोग भाषण एवं अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता को विनियमित करने के लिए अक्सर भारतीय सांसदों द्वारा भी किया जाता रहा है।

भारत में, हालाँकि भाषण और अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता एक प्रत्याभूत संवैधानिक अधिकार[55] है, लेकिन किसी भी तरह से अन्य अधिकारों पर इसकी कोई प्राथमिकता या वरीयता कभी नहीं रही है। संविधान सभा की बहसों में व्यक्तिगत और सामूहिक अधिकारों के बीच तनाव को और जिस तरह से संविधान निर्माताओं ने कुछ 'उचित' प्रतिबंध प्रदान करके उन्हें संतुलित करने का प्रयास किया था, इसको स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है। इस विषय पर वाद-विवाद, विशेष रूप से, भाषण और अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता से संबंधित तीन व्यापक चिंताओं को दर्शाता है: क) ब्रिटिश शासन के किसी भी क़ानून की निरंतरता के बारे में चिंता थी और, कम से कम प्रतीकात्मक रूप से ही सही इसका सर्वसम्मति से निषेध किया गया था। जिस तरह से उस समय की सरकार की आलोचना या उसकी मंशा पर सवाल उठाने हेतु ब्रिटिश सरकार का उदाहरण दिया जा रहा था, इससे यह तो स्पष्टतः परिलक्षित होता है कि ब्रिटिश काल के क़ानूनों की निरंतरता को लेकर एक खीझ थी।[56]; ख) विभाजन की

---

[54] चार्ल्स टेलर (1989) : 118-121.

[55] अनुच्छेद 19 (1) (ए) के तहत

[56] उदाहरण के लिए, श्री मोहम्मद इस्माइल साहिब ने प्रावधानों के दायरे के बारे में अपनी चिंता व्यक्त की और कहा, 'सर, एक और विवाद है, और वह यह है कि जब ब्रिटिश, यानि विदेशी देश में थे तब यह बात अलग थी परंतु अब यह हमारा अपना

पृष्ठभूमि में और सांप्रदायिक हिंसा को भड़काने में कुछ स्थानीय प्रेसों द्वारा निभाई गई नकारात्मक भूमिका को भी संविधान निर्माता ध्यान में रख रहे थे और नई चुनौतियों पर प्रतिक्रिया दे रहे थे[57]; और ग) संविधान निर्माताओं को इस बात की भी चिंता थी कि क्या सरकार पर भाषण और अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता की रक्षा के लिए हमेशा भरोसा किया जा सकता है और इसीलिए 'दो-स्तरीय' प्रतिक्रिया प्रणाली का निर्माण करते हुए न्यायपालिका को मौलिक अधिकारों के रक्षक के रूप में एक महत्त्वपूर्ण भूमिका दी गई।

इन आशंकाओं और चिंताओं के आधार पर अनुच्छेद 19 (1) (ए) को अपनाया गया, जिसने भाषण और अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता को मौलिक अधिकार का दर्जा दिया। हालाँकि, इसे अनुच्छेद 19(2) के तहत परिभाषित प्रावधानों द्वारा सीमित किया गया है। यह अनुच्छेद भारत की संप्रभुता और अखंडता, राज्य की सुरक्षा, विदेशी राज्यों के साथ मैत्रीपूर्ण संबंधों के हितों में, सार्वजनिक व्यवस्था, शालीनता या नैतिकता या अदालत की अवमानना, मानहानि या अपराध के लिए उकसाने के संबंध में उचित प्रतिबंध लगाता है। इन प्रतिबंधों का दायरा 'हेट स्पीच' की समझ से कहीं अधिक है। भले ही हम यह तर्क दें कि 'अपराध के लिए उकसावा' और 'सार्वजनिक व्यवस्था के लिए चिंता' पश्चिम की बहस को प्रतिबिंबित करते हैं, पर 'सभ्यता', 'नैतिकता' या 'मानहानि' के आधार पर लगाए गए प्रतिबंधों का क्या औचित्य है ? क्या इन्हें हेट स्पीच के दायरे में समझा जा सकता है? इसके अलावा, अमेरिका, ब्रिटेन और अन्य पश्चिमी लोकतंत्रों के विपरीत, भारत में अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता से संबंधित बहस कभी भी 'हेट स्पीच' को विनियमित करने के लिए क़ानूनों की आवश्यकता के बारे में नहीं रही है, क्योंकि यह प्रावधान हमेशा से संविधान में मौजूद थे। भारत के संदर्भ में यह बहस मुख्यतः ऐसे क़ानूनों के अर्थ और संविधान में इनके प्रावधानों से जुड़ी व्याख्या पर केंद्रित रही है। यह भी स्पष्ट है कि हमारे क़ानून निर्माताओं का यह मानना था कि यद्यपि भाषण एवं अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता आवश्यक है मगर सांप्रदायिक ध्रुवीकरण और हिंसा में इसके दुरुपयोग से सामाजिक सद्भाव को ख़तरा होने के कारण इसे विनियमित किए जाने की

शासन है. सच है, लेकिन इसका मतलब यह नहीं है कि हम नागरिकों की स्वतंत्रता के साथ जैसा चाहें वैसा व्यवहार कर सकते हैं. नौकरशाही, नौकरशाही है, चाहे वह विदेशी शासन के अधीन हो या स्व-शासन के अधीन हो. सत्ता न केवल विदेशी शासन के तहत, बल्कि स्वशासन के तहत भी लोगों को भ्रष्ट करती है. इसलिए, श्रीमान, नागरिक की कार्यपालिका की अनियमितताओं से बहुत सावधानीपूर्वक रक्षा की जानी चाहिए, जैसे अन्य स्वशासी देशों ने की है'. सी.ए.डी. VII : 725.

[57] जैसे, टी. टी. कृष्णमाचारी ने राज्य को व्यापक शक्तियों के समर्थन में तर्क दिया.
'यह राज्य जिसे अब अस्तित्व में लाया गया है, अपने अस्तित्व के पहले अट्ठारह महीनों में बहुत सी समस्याओं को देख चुका है और इस सदन का प्रत्येक सदस्य इसे जानता है. वर्तमान परिस्थिति के आलोक में, जो आज हमारे समक्ष खड़ी है, ये प्रतिबंध आज आवश्यक हैं, या हम ऐसे समय की कल्पना कर रहे हैं जब चीज़ें सामान्य होंगी. और सरकार को न केवल शरणार्थी समस्या से निपटने के लिए बल्कि इस तथ्य से कि इस देश में विभिन्न ताक़तें हैं जो इस राज्य को वर्तमान स्वरूप में विकसित करना पसंद नहीं करती हैं, और देश के समक्ष उपस्थित आर्थिक परेशानियों से निपटने के लिए विशेष शक्तियों की आवश्यकता होती है. यदि हम अपने संविधान का निर्माण यह मानकर करेंगे कि राज्य को इन शक्तियों का उपयोग करना आवश्यक नहीं होगा, तो यह समस्या है'. सी.ए.डी. VII : 770-3.

आवश्यकता थी। इसलिए ऐसा प्रतीत होता है कि उनके बीच में एक आम सहमति बनी राष्ट्रीय एकता के हित में, कि भाषण एवं अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता के विनियमन के लिए प्रावधान होने चाहिए, मगर वास्तविकता में इन प्रावधानों ने इस महत्त्वपूर्ण स्वतंत्रता के दायरे को काफ़ी सीमित कर दिया है।

क़ानूनी विद्वान लॉरेंस लियांग का ऐसा मानना है कि भारतीय संविधान में भाषण एवं अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता को लेकर एक द्विभाजन नज़र आता है। एक तरफ़ जहाँ अनुच्छेद 19(1)(ए) में नागरिक को एक तर्कसंगत प्राणी माना गया है जो भाषण-कृत्यों में अपनी पूर्ण स्वायत्तता का प्रयोग करने में सक्षम है, वहीं दूसरी ओर अनुच्छेद 19(2) एक प्रभावी सार्वजनिक क्षेत्र की चुनौतियों को दर्शाता है, जहाँ व्यक्ति को भ्रष्ट एवं आक्रोश और उत्तेजना के समक्ष अतिसंवेदनशील माना गया है।[58] ऐसी ही कल्पना अधिकांश भारतीय नागरिकों के भावनात्मक प्राणी होने के बारे में की गई थी और यह माना गया कि उनमें तार्किक 'परिपक्वता' की कमी थी, विशेषकर धर्म से जुड़े मामलों में। इसी तरह की कल्पना संविधान और अन्य वैधानिक क़ानूनों में महत्त्वपूर्ण संशोधनों की शुरुआत के लिए आधार बिंदु बनी। आम लोगों को भाषण और अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता के दुरुपयोग से बचाने के लिए क़ानून-निर्माताओं ने सुरक्षा कवच प्रदान करना अपना कर्तव्य माना और इस संदर्भ में, क़ानून को सहिष्णुता के मूल्यों और नागरिकों को अनुशासित करने के लिए एक माध्यम के रूप में देखा गया।

सार्वजनिक शांति और व्यवस्था पर अत्यधिक ज़ोर देते हुए सरकारी संस्थाओं ने ऐसे भाषण और अभिव्यक्ति को सेंसर करने में सक्रिय भूमिका दिखाई जिन्हें धार्मिक भावनाओं को आहत करने या समुदायों के बीच धार्मिक घृणा को भड़काने में सक्षम माना गया। प्रताप भानु मेहता जैसे विद्वान मानते हैं कि यह अंतर्निहित धारणा कि भारतीय नागरिकों में हेट स्पीच को सहने की क्षमता की कमी होती है, राज्य को पैतृक भूमिका निभाने की अनुमति देती है जहाँ राज्य केवल सार्वजनिक व्यवस्था के रक्षक के रूप में भाग लेता है, न कि स्वतंत्र भाषण के रक्षक के रूप में।[59] जब भी अधिकारियों को तनिक से विवाद के कारण धार्मिक अपराध के होने या क़ानून और व्यवस्था के भंग होने का ख़तरा महसूस होता है, तो वे ऐसी परिस्थितियों को अधिक सुरक्षित तरीक़े से सँभालना समझदारी समझते हैं। ऐसी परिस्थिति में सामान्यतः किसी पुस्तक पर प्रतिबंध लगाया जाता है, या उस पर मुक़दमा चलाया जाता है, या लेखक/प्रकाशक को गिरफ़्तार कर लिया जाता है। अधिकारियों का दावा है कि ऐसे मामलों में पीड़ित व्यक्ति को संबंधित अदालत का दरवाज़ा खटखटाने और अपने पक्ष में न्यायिक फ़ैसला लेने का पूर्ण अधिकार है। एक ओर यह प्रावधान, अधिकारियों को तत्कालीन क़ानून और व्यवस्था की स्थिति को अस्थायी रूप से शांत करने में मदद करता है, तो वहीं दूसरी ओर, यदि अदालत के फ़ैसले के बाद शांति भंग होती भी है, तो कार्यपालिका

[58] लॉरेंस लिआंग (2016) : 818.

[59] प्रताप भानु मेहता (2008) : 330-332.

गेंद को न्यायपालिका के पाले में रख, पूर्वतः ही इसकी सतर्कता का हवाला देते हुए ऐसी परिस्थिति से अपना पल्ला झाड़ सकती है।[60]

भारत में अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता की सीमाओं को परिभाषित करने में न्यायपालिका की भूमिका

अमेरिकी और युरोपीय प्रणालियों की भाँति, भारत में भी न्यायपालिका भाषण एवं अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता की सीमाओं को परिभाषित करने में एक प्रमुख भूमिका निभाती है। हालाँकि, अमेरिकी न्यायपालिका (जिसने हेट स्पीच के सवालों का निपटारा 'फ़ाइटिंग वर्ड्स' और 'स्पष्ट और मौजूदा ख़तरे' के सिद्धांतों के आधार पर किया है) के विपरीत भारतीय सर्वोच्च न्यायालय प्रत्येक मामले को मौलिक और प्रक्रियात्मक दृष्टिकोण से अलग मानते हुए प्रतिबंधों की 'तर्कसंगति' का परीक्षण करते हुए व्यापक संज्ञान लेता है।[61] आम तौर पर न्यायपालिका ने 'तर्कसंगति' की व्याख्या व्यापक अर्थों में की है। इसके लिए अलग-अलग मुक़दमों में न्यायपालिका ने कभी भाषण देने वाले की नीयत[62], तो कभी भाषण की 'विषयवस्तु'[63] एवं कभी-कभी भाषण के 'संदर्भ'[64] को महत्ता देती है। इसी आधार पर अदालतों ने विभिन्न मामलों में अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता में कटौती को उचित ठहराया है। यह इंगित किया जाना चाहिए कि विभिन्न मामलों में अदालतों और विशेष रूप से सर्वोच्च न्यायालय ने उन वैधानिक क़ानूनों को संवैधानिक माना है, जिनका उपयोग अधिकारियों द्वारा भाषण और अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता को प्रतिबंधित करने के लिए किया जाता है।[65] अब तक, अदालतों ने माना है कि ये क़ानून अनुच्छेद 19 (2) के तहत प्रदान की गई 'युक्तियुक्त प्रतिबंधों' की परिभाषा के अंतर्गत ही आते हैं। भाषण और अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता पर प्रतिबंधों को बरक़रार रखने के लिए अदालतों द्वारा जिन तर्कों का उपयोग किया जाता है वे निम्नलिखित हैं : क) विवादास्पद भाषण-कृत्यों या प्रकाशन द्वारा उत्पन्न सार्वजनिक व्यवस्था के लिए ख़तरा; और ख) धर्मनिरपेक्षता और धार्मिक बहुलवाद के मूल्यों की रक्षा करना।

---

[60] राजीव धवन (2008) : 145. धवन इसे 'समस्या समाधान' की राजनीति कहते हैं जिसका इस्तेमाल सरकारी अधिकारियों द्वारा ऐसे मामलों में सार्वजनिक व्यवस्था से संबंधित ख़तरों का मुक़ाबला करने के लिए किया जाता है.

[61] मद्रास राज्य बनाम वी.जी. रो (1952) ए.आई.आर 196, एस.सी.आर 597.

[62] रामजीलाल मोदी बनाम उत्तर प्रदेश राज्य, ए.आई. आर 1957 एस.सी 622; 1957 एस.सी.आर 860, लोक अभियोजक बनाम पी रामास्वामी नादर, केस नंबर – सीआरएल अनुप्रयोग की संख्या 125 ऑफ़ 1962.

[63] एन. वीरब्रह्मम बनाम आंध्र प्रदेश राज्य, ए.आई.आर 1959 AP 572; नंद किशोर सिंह बनाम बिहार राज्य, ए.आई.आर 1986 पैट 98.

[64] वीरेंद्र बनाम पंजाब राज्य (1957), ए.आई.आर 896 एस.सी.आर 308; गोपाल विनायक गोडसे बनाम भारत संघ और अन्य (1971) ए.आई.आर बीओम 56.

[65] आईपीसी की धारा 295(ए), 153 (ए) और सीआरपीसी की धारा 95 की संवैधानिकता क्रमशः रामजी लाल मोदी, 1957 ए.आई.आर. 620; बाबू राव पटेल, 1980 ए.आई.आर. 763; एन. वीरब्रह्मम, ए.आई.आर.1959 ए.पी. 572. में स्वीकार की गई है.

इनमे से प्रथम तर्क मुख्य रूप से इस धारणा पर आधारित है कि किसी भी समुदाय के ख़िलाफ़ लक्षित अपमान का उग्र रूप, या घृणा को उकसाने से सार्वजनिक व्यवस्था बनाए रखने की समस्या पैदा होगी, और अधिकारियों को ऐसी स्थिति में तुरंत कार्रवाई करनी चाहिए। हालाँकि अदालतों ने आधिकारिक कार्यवाही के संबंध में कुछ संतुलन और सुरक्षात्मक तंत्र भी विकसित किए हैं। उदाहरण के लिए, न्यायालय द्वारा यह अनिवार्य किया गया है कि किसी प्रकाशन को प्रतिबंधित या ज़ब्त करने से पहले संबंधित अधिकारी द्वारा कार्यवाही के कारणों का उल्लेख करते हुए एक अधिसूचना जारी की जानी चाहिए। इसी तरह, लेखक/प्रकाशक की गिरफ़्तारी के मामले में अधिकारी को अदालत में साबित करना होता है कि यह कृत्य जानबूझकर और दुर्भावनापूर्ण नीयत से किया गया था। हालाँकि, इन संतुलन तंत्रों के साथ समस्या यह है कि इनमें से किसी का भी परीक्षण केवल अदालतों में ही किया जा सकता है; कार्यवाही/गिरफ़्तारी से बाद सरकारी अधिकारी इन मामलों में अपने विवेक के आधार पर कार्यवाही कर सकते हैं। अक्सर उनका निर्णय सार्वजनिक शांति बनाए रखने के लिए किसी भी प्रकाशन और उसके लेखक/प्रकाशक के विरुद्ध कार्यवाही करने के तर्क द्वारा निर्देशित होता है।

न्यायपालिका के द्वारा अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता को सीमित करने के लिए जो दूसरा तर्क दिया जाता है उसे भारतीय संदर्भ में कोई विशेष दर्जा प्राप्त नहीं है,[66] और किसी अन्य मौलिक अधिकारों से यदि इसका टकराव होता है तो एक संतुलन बनाने की कोशिश की जानी चाहिए। उदाहरण के लिए, अदालतों ने यह सुनिश्चित किया है कि अनुच्छेद 25 के तहत किसी के धर्म को मानने, अभ्यास करने और प्रचार करने का अधिकार एक ऐसा प्रावधान है, जिसके साथ अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता के अधिकार को संतुलित करने की आवश्यकता है। इस बात पर ज़ोर दिया गया है कि भारत जैसे बहुसांस्कृतिक, धर्मनिरपेक्ष देश में, सभी नागरिकों के धार्मिक हितों की रक्षा करना राज्य का कर्तव्य है। धार्मिक सिद्धांतों, धार्मिक ग्रंथों और यहाँ तक कि धार्मिक व्यक्ति को ऐसे हमले से बचाने के लिए इस तर्क के दायरे का विस्तार किया गया है, क्योंकि इस तरह के कृत्य को नागरिकों के विश्वास पर सीधा प्रहार माना जाता है। एन. वीरब्रह्मम केस[67] और श्री बरगुर रामचंद्रप्पा[68] जैसे मामलों में न्यायालयों ने अपनी स्थिति स्पष्ट करते हुए कहा है कि धार्मिक व्यक्ति और धार्मिक ग्रंथों की आलोचना या अपमान दूसरों के विश्वास में हस्तक्षेप के समान है। ऐसी आलोचना और अपमान को भारत जैसे धर्मनिरपेक्ष और बहुल समाज में अनुमति नहीं दी जा सकती है। ऐसे मामले सार्वजनिक व्यवस्था से संबंधित समस्या को जन्म दे सकते हैं और इसलिए सरकार द्वारा कार्यवाही किया जाना उचित है।

---

[66] यह स्थिति अमेरिकी संविधान के प्रथम संशोधन के संबंध में विद्वानों के बीच परिलक्षित होती है, जैसे ड्वॉर्किन, और सी. एडविन बेकर, अन्य. हालाँकि अमेरिका के संदर्भ में भी इस दृष्टिकोण पर प्रभावी ढंग से सवाल उठाया गया है, उदाहरण के लिए देखें, स्टेनली फ़िश (1994); वाल्ड्रॉन (2012).

[67] एन. वीरब्रह्मम, ए.आई.आर.1959 ए.पी. 572.

[68] श्री बरगुर रामचंद्रप्पा और अन्य बनाम कर्नाटक राज्य और अन्य, (2007) 5 एस.सी.सी.11.

उपरोक्त चर्चा 'अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता' के विषय पर अदालत की स्थिति के दो प्रमुख पहलुओं को दर्शाती है। प्रथमतः, अदालतें वैधानिक क़ानूनों और संवैधानिक सीमाओं की बहुत विस्तृत व्याख्या के माध्यम से राज्य के हस्तक्षेप को क़ानूनी संरक्षण प्रदान करती हैं,[69] और दूसरा यह कि अदालतें 'क़ानूनी-पैतृकवाद' का पालन करती हुईं नागरिकों को इस बारे में मार्गदर्शन करती हैं कि क्या कहना हैं, कैसे कहना है और कितना कहना है।[70] अदालतों का यह रवैया, संवैधानिक क़ानूनों की प्रकृति से जुड़ी अस्पष्टता के साथ मिलकर 'सेंसरशिप का जाल' बनाता है, जिससे किसी भी व्यक्ति के लिए अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता का प्रयोग करना और उसका आनंद लेना मुश्किल हो जाता है।

निष्कर्ष

उपरोक्त चर्चा से यह इंगित होता है कि यदि किसी भी प्रकार के भाषण अथवा अभिव्यक्ति से किसी की भावना आहत होती है तो भारतीय क़ानून और अदालती फ़ैसले ऐसे में भाषण एवं अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता के विनियमन के पक्ष में होते हैं और यह विनियमन केवल हेट स्पीच तक ही सीमित नहीं रहता है। परंतु विनियमन की इस प्रवृत्ति की अपनी उलझने हैं। लॉरेन्स लियांग ये मानते हैं कि यदि आपके क़ानून में ऐसे प्रावधान हों जो भावनाओं के आधार पर स्वतंत्र अभिव्यक्ति के विनियमन का समर्थन करें तो आम तौर पर यह देखा गया है कि 'आहत भावनाओं' से जुड़े मामलों को क़ानूनी वैधता मिल जाती है, जिस कारण से ऐसे मामलों की संख्या में निरंतर वृद्धि देखने को मिलती है।[71] अहमद मानते हैं कि वास्तव में क़ानून के द्वारा और धार्मिक आवेश को नियंत्रण करने के क्रम में ऐसी भावनाओं को क़ानूनी मान्यता एवं स्वीकृति मिल जाती है। इसी आधार पर अहमद का मानना है कि जब भी कोई भाषण एवं अभिव्यक्ति किसी की धार्मिक एवं अन्य भावनाओं को आहत करती है तो इसके नाम पर लोग उग्र भाव से ऐसे भाषण और अभिव्यक्ति को नियंत्रित करने के लिए राज्य पर दबाव बनाते हैं।[72] भारत में अक्सर यह देखा जाता रहा है कि 'आहत भावना' के नाम पर अलग-अलग समूह और समुदाय के हितैषी होने का दावा करने वाले लोग अक्सर कलाकृतियों, फ़िल्मों, किताबों और अन्य प्रकार के अभिव्यक्ति के साधनों पर निरंतर आघात करते रहे हैं।

---

[69] इसका यह अर्थ नहीं है कि यह संरक्षण ग़ैर-आलोचनात्मक है, जैसा कि कई निर्णयों में प्रदर्शित किया गया है, लेकिन समग्र रूप से देखने से यह समझ आता है कि ज़्यादातर अवसरों पर जब क़ानून और व्यवस्था के लिए ख़तरा होता है, अदालतें राज्य की प्रतिक्रिया को सही ठहराती हैं.

[70] प्रकाशनों के विश्लेषण में अदालतें 'मामले-तरीक़े' का एक साथ उपयोग करती हैं, और विशेष रूप से, निंदात्मक भाषा से संबंधित मामलों में एहतियात के बारे में अदालतों के सुझाव. उदाहरण के लिए, श्री बरगुर रामचंद्रप्पा में, अदालत याद दिलाती है कि 'इस बात को नज़रअंदाज़ नहीं किया जा सकता है कि भारत भाषा, संस्कृति और धर्म में गहन विभिन्नता वाला देश है और अनुचित और दुर्भावनापूर्ण आलोचना या दूसरों के विश्वास में हस्तक्षेप स्वीकार नहीं किया जा सकता है'.

[71] लॉरेंस लिआंग (2012).

[72] अहमद : 177.

ग़ौरतलब यह है कि सेंसरशिप के ऐसे कृत्यों में राज्य की भूमिका भी कई बार गौण प्रतीत होती है। ऐसे आघातों ने भाषण एवं अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता को अर्थहीन बना दिया है। वास्तव में, ऐसे मामलों में सेंसरशिप का फ़ैसला समुदायों और समूहों के स्वघोषित प्रतिनिधि स्वयं ही सड़कों पर करते हैं, न कि क़ानून के आधार पर राज्य की संस्थाएँ। इस तरह के सेंसरशिप ने हेट स्पीच के विमर्श को और पेचीदा बना दिया है, क्योंकि ऐसे मामलों में हेट स्पीच पर नियंत्रण एवं भावनाओं को ठेस पहुँचाने के दावे के आधार पर भाषण एवं अभिव्यक्ति के किसी भी स्वरूप को प्रतिबंधित किए जाने (क़ानूनी तरीक़े से या भीड़ के द्वारा बलपूर्वक) के मध्य की रेखा धूमिल हो जाती है।

दुर्भाग्य से, या तो संकीर्ण राजनीतिक विचारों के कारण या आक्रोशित भीड़ को नियंत्रित करने में असमर्थता और सार्वजनिक व्यवस्था के बिगड़ने के डर के कारण, राज्य की संस्थाएँ भाषण एवं अभिव्यक्ति कि स्वतंत्रता पर प्रतिबंध लगाने के दावों के सामने आत्मसमर्पण कर देती हैं। हालाँकि यह भी विदित है कि अक्सर हेट स्पीच का इस्तेमाल जान बूझकर हाशिये के समूहों की बेइज़्ज़ती या तिरस्कार करने, अथवा चुनाव के समय सामाजिक ध्रुवीकरण करने के लिए किया जाता है। ऐसे भाषण एवं अभिव्यक्ति का समर्थन एवं रक्षा भारतीय लोकाचार के लिए घातक हो सकता है इसलिए भाषण एवं अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता का समर्थन करते हुए भी हमें अत्यधिक सावधान रहने की आवश्यकता है। जहाँ एक ओर भाषण एवं अभिव्यक्ति की निरंकुश स्वतंत्रता के घातक परिणाम हो सकते हैं वहीं दूसरी ओर राज्य का अत्यधिक हस्तक्षेप ऐसी स्वतंत्रता को बेमानी बना सकता है।

इस लेख से यह स्पष्ट है कि भारत में वैधानिक और संवैधानिक क़ानूनों और न्यायिक व्याख्या ने जिस तरह से भाषण एवं अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता के दायरों को तय और परिभाषित किया है, वह न केवल अमेरिकी और युरोपीय लोकतंत्रों से भिन्न है बल्कि इन देशों में जिस तरह से हेट स्पीच की अवधारणा का इस्तेमाल होता है उससे कहीं ज़्यादा विस्तृत एवं व्यापक भी है। ऐसे क़ानूनों का संदर्भ के आधार पर समर्थन समाज को हेट स्पीच के दुष्प्रभाव से तो शायद बचा सकता है, मगर भाषण एवं अभिव्यक्ति के परिसीमन की क़ानूनी परिभाषा में मौजूद अनिश्चता और इस विषय में न्यायिक व्यवस्था में किसी भी तय सिद्धांत के अभाव के कारण इस प्रमुख मौलिक अधिकार पर जो ख़तरा निरंतर बना रहता है उसे समाप्त कर पाने में असमर्थ है। दुर्भाग्य से, स्वतंत्रता के लगभग 75 वर्षों के बाद भी हम ऐसे विषयों के निपटारे का एक संतुलित मार्ग नहीं खोज पाए हैं और क़ानूनों एवं न्यायपालिका के माध्यम से, बिना भाषण एवं अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता के वैध दायरे में बाधा डाले, हेट स्पीच को रोकने के एक प्रभावी मार्ग की तलाश में है। यही कारण है कि हेट स्पीच और अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता के मध्य संबंध एवं इसके तर्क-संगत नियंत्रण पर विमर्श अभी भी निरंतर जारी है।

संदर्भ

असद अली अहमद (2009), 'स्पेक्टर्स ऑफ़ मैकॉले : ब्लास्फ़ेमी, *दि इंडियन पीनल कोड*, ऐंड पकिस्तान्'स पोस्ट-कोलोनिअल प्रेडिकामेन्ट', रमिंदर कौर तथा विलियम माज़रेला (सं.), *सेंसरशिप इन साउथ एशिया : कल्चरल रेगुलेशन फ़्रॉम सेडिशन टू सिडक्शन*, इंडियाना युनिवर्सिटी प्रेस, ब्लूमिंगटन, इंडियानापोलिस.

आर. ए. स्मोल्ला (1990), 'रिथिंकिंग फ़र्स्ट अमेंडमेंट असेंशंस अबाउट रेसिस्ट ऐंड सेक्सिस्ट स्पीच', *वॉशिंगटन ऐंड ली लॉ रिव्यू*, 47(171).

आर. जे. बायरोम ऐंड ए. एल. लेंटन (1991), 'द डिस्ट्रीब्यूशन ऑफ़ एंटी-सेमेटिज़म इन कैनेडा इन 1984', *कैनेडियन जर्नल ऑफ़ सोशियोलॉजी*, 16.

आर. सेल्ज़र ऐंड जी.एम. लोप्स (1986), 'द कू क्लक्स क्लान : रीज़न्स फ़ॉर सपोर्ट *ऑर ऑ*पोज़ीशन अमंग व्हाइट डेस्पॉन्डेंट्स', *जर्नल ऑफ़ ब्लैक स्टडीज़*, 17.

आर. हॉफ़मैन (1992), 'इनसाइटमेन्ट टू नैशनल ऐंड रेशियल हेट्रेड : द लीगल सॉल्यूशन इन जर्मनी', सैंड्रा कॉलिवर (सं.), *स्ट्राइकिंग ए बैलेंस : हेट स्पीच, फ़्रीडम ऑफ़ एक्सप्रेशन ऐंड नॉन-डिस्क्रिमिनेशन*, आर्टिकल 19, इंटरनैशनल सेंटर अगेंस्ट सेंसरशिप, ह्यूमन राइट्स सेंटर, युनिवर्सिटी ऑफ़ एस्सेस.

इक़बाल ए. अंसारी (2008), 'फ़्री स्पीच- हेट स्पीच : द तसलीमा नसरीन केस', *इकनॉमिक ऐंड पॉलिटिकल वीकली* 43 (8).

इयान क्रैम (2006), *कंटेस्टेड वर्ड्स : लीगल रेस्ट्रिक्शन्स ऑन फ़्रीडम ऑफ़ स्पीच इन लिबरल डेमोक्रेसीज़*, ऐशगेट हैम्पशायर.

ए. जी. नूरानी (1999), 'फ़्री स्पीच ऐंड प्रोवोकेशन', *इकनॉमिक ऐंड पॉलिटिकल वीकली*, 34 (41).

ए. जी. नूरानी (2008), 'फ़िल्म्स ऐंड फ़्री स्पीच', *इकनॉमिक ऐंड पॉलिटिकल वीकली*, 43 (18).

एंड्रिया ड्वर्किन ऐंड कैथरीन मैकिनॉन (सं.) (1988), *पोर्नोग्राफ़ी ऐंड सिविल राइट्स : ए न्यू डे फ़ॉर विमेंस इक्वलिटी*, ऑर्गनाइज़िंग अगेंस्ट पोर्नोग्रफ़ी, मिनियापोलिस.

एम. रोसेनफ़ेल्ड (2012), 'हेट स्पीच इन कॉन्स्टीट्यूशनल जुरीसप्रूडेंस : ए कम्पैरेटिव एनालिसिस', माइकल हर्ज़ तथा पीटर मॉलनर (सं.), द *कंटेंट ऐंड कॉन्टेक्स्ट ऑफ़ हेट स्पीच*, केम्ब्रिज युनिवर्सिटी प्रेस, न्यू यॉर्क.

वेन फ़िस (1996), *लिबरल डिवाइड : फ़्रीडम ऑफ़ स्पीच ऐंड द मेनी युसेस ऑफ़ पावर*, वेस्टव्यू, ऑक्सफ़र्ड.

कैथरीन मैकिनॉन (1996), *ओनली वर्ड्स*, हार्वर्ड युनिवर्सिटी प्रेस, केम्ब्रिज, मैसाचुसेट्स.

कैस सनस्टीन (2003), *व्हाय सोसाइटीज़ नीड डिस्सेंट*? हार्वर्ड युनिवर्सिटी प्रेस, हार्वर्ड.

चार्ल्स टेलर (1989), 'द रुश्दी कंट्रोवर्सी', *पब्लिक कल्चर*, 2(1).

जेरेमी वाल्ड्रॉन (2012), द *हार्म इन हेट स्पीच*, हार्वर्ड युनिवर्सिटी प्रेस, लंदन.

जोआना ओयेदिरन (1992), 'आर्टिकल 13 (5) ऑफ़ दि अमेरिकन कन्वेंशन ऑन ह्यूमन राइट्स', सैंड्रा कॉलिवर (सं.), *स्ट्राइकिंग ए बैलेंस : हेट स्पीच, फ़्रीडम ऑफ़ एक्सप्रेशन ऐंड नॉन-डिस्क्रिमिनेशन*, आर्टिकल 19, इंटरनैशनल सेंटर अगेंस्ट सेंसरशिप, ह्यूमन राइट्स सेंटर, युनिवर्सिटी ऑफ़ एस्सेस.

टी. जॉन ओ'डॉड (2013), 'पिलेट्स पैरामाउंट ड्यूटी : कॉन्स्टीट्यूशनल रीज़नेबलनेस ऐंड द रेस्ट्रिक्शन्स ऑफ़ फ़्रीडम ऑफ़ एक्सप्रेशन ऐंड असेंबली', सुनील खिलनानी, विक्रम राघवन, तथा अरुण के. थिरुवेंगदम (सं.), *कम्पैरेटिव कॉन्स्टीट्यूशनल इन साउथ एशिया*, ऑक्सफ़र्ड युनिवर्सिटी प्रेस, नई दिल्ली.2013).

टी. बी. मैकॉले (1898), द *कम्प्लीट वर्क्स ऑफ़ लॉर्ड मैकॉले. अल्बानी एडिशन*, खंड 12, लेडी ट्रेवलियन (सम्पा.), लॉन्गमैन्स, ग्रीन ऐंड कंपनी, लंदन.

टोनी एम. मासारो (1991), 'इक्वलिटी ऐंड फ़्रीडम ऑफ़ स्पीच : द हेट स्पीच डिलेमा', *विलियम ऐंड मरी लॉ रिव्यू*, 32.

तारलाच मैक्गॉनैगल (2012), 'ए सर्वे ऐंड क्रिटिकल एनालिसिस ऑफ़ कॉउन्सिल ऑफ़ युरोप स्ट्रेटेजीज फ़ॉर कॉउंटरिंग हेट स्पीच', माइकल हर्ज़ तथा पीटर मोलनर (सं.), द *कंटेंट ऐंड कॉन्टेक्स्ट ऑफ़ हेट स्पीच*, केम्ब्रिज युनिवर्सिटी प्रेस, न्यू यॉर्क.

तलाल असद (2009), 'फ़्री स्पीच, ब्लास्फ़ेमी ऐंड सेक्युलर क्रिटिसिज़म', तलाल असद, वेंडी ब्राउन, जूडिथ बटलर, तथा सबा महमूद (सं.), इज़ क्रिटिक सेकुलर? ब्लास्फ़ेमी, इंजरी ऐंड फ़्री स्पीच, द टाउनसेंड सेंटर फ़ॉर द ह्यूमैनिटीज़, युनिवर्सिटी ऑफ़ कैलिफ़ोर्निया, बर्कली.

पेट्रीसिया विलियम्स (1987), 'स्पिरिट-मर्डरिंग द मैसेंजर : द डिस्कोर्स ऑफ़ फ़िंगरपॉइंटिंग ऐज़ द लॉ'ज़ रिस्पॉन्स टू रेसिज़म', *युनिवर्सिटी ऑफ़ मियामी लॉ रिव्यू*, 127.

प्रताप भानु मेहता (2008), 'पैशन ऐंड कॉन्सट्रेन्ट : कोर्ट्स ऐंड द रेगुलेशन ऑफ़ रिलीजियस मीनिंग', राजीव भार्गव (सं.), *पॉलिटिक्स ऐंड एथिक्स ऑफ़ दि इंडियन कॉन्स्टीटयूशन*, ऑक्सफ़र्ड युनिवर्सिटी प्रेस, नई दिल्ली.

फ़्रेडरिक शॉअर (1985), 'स्लिपरी स्लोप्स', *हार्वर्ड लॉ रिव्यू*, 99(2).

भीखू पारेख (2012), 'इज़ देअर ए केस फ़ॉर बैनिंग हेट स्पीच?' माइकल हर्ज़ तथा पीटर मोलनर (सं.), द कंटेंट ऐंड कॉन्टेक्स्ट ऑफ़ हेट स्पीच, केम्ब्रिज युनिवर्सिटी प्रेस, न्यू यॉर्क.

मारी जे. मास्तुदा, चार्ल्स आर. लॉरेंस III, रिचर्ड डेलगाडो, और किम्बर्ले विलियम क्रेंशॉ (सं.) (1993), *वर्ड्स दैट वून्ड : क्रिटिकल रेस थ्योरी, असॉल्टिव स्पीच,* ऐंड द *फ़र्स्ट अमेंडमेंट*, वेस्टव्यू, ऑक्सफ़र्ड.

राजीव धवन (2008), *पब्लिश ऐंड बी डैम्ड : सेंसरशिप ऐंड इनटॉलरेंस इन इंडिया*, तूलिका बुक्स, नई दिल्ली.

रॉबर्ट पोस्ट (2009), 'हेट स्पीच', इवान हेयर तथा जेम्स वेनस्टीन (सं.), *एक्सट्रीम स्पीच ऐंड डेमोक्रेसी*, ऑक्सफ़र्ड युनिवर्सिटी प्रेस, ऑक्सफ़र्ड.

रिचर्ड एबेल (1994), *स्पीच ऐंड रेस्पेक्ट*, स्टीवंस ऐंड संस लिमिटेड, लंदन.

रॉनाल्ड ड्वॉर्किन (2009), 'फ़ॉरवर्ड', इवान हेयर तथा जेम्स वेनस्टेन (सं.), *एक्सट्रीम स्पीच ऐंड डेमोक्रेसी*, ऑक्सफ़र्ड युनिवर्सिटी प्रेस, ऑक्सफ़र्ड.

रत्ना कपूर (1996), 'हू ड्रॉज़ द लाइन? फ़ेमिनिस्ट रिफ़्लेक्शंस ऑन स्पीच ऐंड सेंसरशिप', *इकनॉमिक ऐंड पॉलिटिकल वीकली*, 31(16/17).

लॉरेंस लियांग (2012), 'लव लैंग्वेज ऑर हेट स्पीच', *तहलका*, 9 (3).

लॉरेंस लिआंग (2016), 'फ़्री स्पीच ऐंड एक्सप्रेशन', सुजीत चौधरी, माधव खोसला तथा प्रताप भानु मेहता (सं.), *इन दि ऑक्सफ़र्ड हैंडबुक ऑफ़ दि इंडियन कॉन्स्टीटयूशन*, ऑक्सफ़र्ड युनिवर्सिटी प्रेस, नई दिल्ली.

सी. एडविन बेकर (2012), 'ऑटोनमी ऐंड हेट स्पीच', माइकल हर्ज़ तथा पीटर मोलनर (सं.), द *कंटेंट ऐंड कॉन्टेक्स्ट ऑफ़ हेट स्पीच*, केम्ब्रिज युनिवर्सिटी प्रेस, न्यू यॉर्क.

सैमुअल वॉकर (1994), *हेट स्पीच : द हिस्ट्री ऑफ़ ऐन अमेरिकन कंट्रोवर्सी*, युनिवर्सिटी ऑफ़ नेब्रास्का प्रेस, लंदन.

सबा महमूद (2009), 'रिलीजियस रीज़न ऐंड सेक्युलर एफ़ेक्ट: ऐन इन्कमेंसुरेबल डिवाइड?, सबा महमूद, वेंडी ब्राउन, जूडिथ बटलर (सं.), इज़ क्रिटिक सेकुलर? ब्लास्फेमी, इंजरी ऐंड फ़्री स्पीच, द टाउनसेंड सेंटर फ़ॉर द ह्युमैनिटीज़, युनिवर्सिटी ऑफ़ कैलिफ़ोर्निया, बर्कली.

स्टीवन जे. हेमैन (2009), 'हेट स्पीच, पब्लिक डिस्कोर्स, ऐंड द फ़र्स्ट अमेंडमेंट', इवान हेयर तथा जेम्स वेनस्टीन (सं.) *एक्सट्रीम स्पीच ऐंड डेमोक्रेसी*, ऑक्सफ़र्ड युनिवर्सिटी प्रेस, ऑक्सफ़र्ड.

स्टेनली फ़िश (1994), देअर *इज़ नो थिंग ऐज़ फ़्री स्पीच : ऐंड इट्स ए गुड थिंग* टू, ऑक्सफ़र्ड युनिवर्सिटी प्रेस, ऑक्सफ़र्ड.